जनसत्ता

वादों का भ्रम

देश में आम चुनाव का माहौल जोर पकड़ चुका है। कल पहले चरण का मतदान होगा। मई के तीसरे हफ्ते में अंतिम यानी सातवें चरण के मतदान तक संकल्पों और वादों की भरमार बनी रहेगी। रोज-रोज यही सुनने-देखने को मिल रहा है कि हमने क्या-क्या कर डाला जो पिछली सरकार नहीं कर पाई, या हम सत्ता में आए तो ऐसा क्या करेंगे जो मौजूदा सरकार नहीं कर सकी। इस तरह जहां सत्तारूढ़ पार्टी का गठबंधन पिछले पांच साल के कामों और उपलब्धियों को गिनाते हुए मतदाताओं को हाथ से निकलने नहीं देने की पुरजोर कोशिशों में जुटा है, वहीं विपक्षी दल जनता के समक्ष हकीकत उजागर करने में लगे हैं। रोजाना ही सत्तापक्ष और विपक्ष की ओर से नए-नए तथ्य, खुलासे सामने आ रहे हैं जो मतदाताओं को प्रभावित कर रहे हैं। यही स्थिति हर चुनाव- स्थानीय निकाय से लेकर विधानसभा और लोकसभा तक में बनती है। ऐसे में मतदाता के सामने सबसे बड़ा सवाल यह रहता है कि किसकी सुने, किसकी माने और किसे वोट दे।

दरअसल, मतदाता राजनीतिक दलों के लुभावने वादों के जाल में फंसा रहता है। जनता से वादे करना लोकतंत्र में चुनाव का अभिन्न हिस्सा है। लेकिन ऐसे वादे करना जो कभी पूरे नहीं किए जा सकते, हमारे राजनीतिक दलों की पुरानी परिपाटी बनी हुई है। पहले आम चुनाव से लेकर आज तक नजर डालें तो शायद ही कोई ऐसा चुनावी वादा होगा जो किसी दल ने कभी निभाया हो, या पूरा किया हो। हालांकि मतदाता अब कहीं न कहीं जागरूक हुआ है और हकीकत को समझने भी लगा है। वह जान रहा है कि सिर्फ चुनाव जीतने के लिए पार्टियां जो लंबे-चौड़े वादे कर रही हैं वे सब्जबाग दिखाने से ज्यादा कुछ नहीं हैं। प्रमुख राजनीतिक दलों के घोषणापत्र, संकल्प पत्र जारी हो चुके हैं। सभी ने गरीबी, रोजगार, आरक्षण, महिला सुरक्षा, महिला आरक्षण, निजी क्षेत्र में आरक्षण, पेंशन, किसानों की कर्जमाफी, राम मंदिर निर्माण, देश की अर्थव्यवस्था से जुड़े मसले, विकास दर, उद्योग-धंधों की हालत, शिक्षा, स्वास्थ्य जैसे तमाम मुद्दे अपने-अपने घोषणापत्रों और संकल्पपत्र में रखे हैं। ये ऐसे मुद्दे हैं, जिन्हें राजनीतिक दल हर चुनाव में लेकर जनता के समक्ष पहुंचते हैं। लेकिन विडंबना यह है कि हर बार वोट देने के बाद मतदाता अपने को ठगा-सा महसूस करता है।

वादे कर मतदाताओं को फंसाना आसान होता है। इसमें राजनीतिक दल खासे निपुण होते हैं। हालांकि वे खुद भी यह भली-भांति जानते-समझते हैं कि जो वादे वे कर रहे हैं उन्हें किसी सूरत में पूरा नहीं कर पाएंगे। मसलन, गरीबी हटाने का वादा ही लें। पिछले सात दशक में भी देश से गरीबी दूर नहीं हो पाई और आज हकीकत यह है कि खुशहाली के पैमाने पर भारत की स्थिति पायदान के सबसे निचले छोर के करीब है। जाहिर है, खैरात बांटने और गरीबों को झुनझुना दिखाने के अलावा किसी सरकार ने कुछ नहीं किया। ठगा-सा मतदाता आज तक पूछ रहा है मंदिर कब बनेगा! महिला आरक्षण के मुद्दे पर सारे दल भीतर से एक हैं। शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे मुद्दे घोषणापत्रों तक सीमित हैं। किसी भी दल या गठबंधन की सरकार सत्ता में हो, किसानों की खुदकुशी की घटनाएं नहीं रुकतीं। इसलिए मतदाताओं को लगता है कि सारे दल झूठे वादे ही करते हैं। राजनीतिक दलों की विश्वसनीयता को लेकर जनता के मन में सवाल उठना खुद दलों के लिए गंभीर चिंता का विषय होना चाहिए। अब राजनीतिक दलों के लिए यह अनिवार्य किया जाना जरूरी हो गया है कि वे अपने चुनावी घोषणापत्रों में सिर्फ वही वादे और घोषणाएं करें जिन्हें वे पूरा कर सकते हों। चुनाव आयोग अगर इसे अनिवार्य बना दे तो वाकई जनता को खोखले वादों से बचाया जा सकता है।

कसता शिकंजा

लंदन की एक अदालत ने जिस तरह विजय माल्या की याचिका को ठुकरा दिया है, उससे भारत में उसके प्रत्यर्पण का रास्ता आसान होता हुआ लग रहा है। हालांकि कानून प्रक्रिया की अपनी सीमाएं होती हैं और माल्या को भारत लाए जाने से पहले अभी कई चरण बाकी हैं। इसके बावजूद यह कहा जा सकता है कि अपने प्रत्यर्पण के खिलाफ माल्या की याचिका लंदन हाईकोर्ट की नजर में खारिज करने लायक लगी है। इससे यही साफ होता है कि अपने अपराधों पर पेश की गई उसकी तमाम सफाई किसी ठोस बुनियाद पर खड़ी नहीं है। अदालत के फैसले के मद्देनजर भारतीय जांच और प्रवर्तन एजेंसियां माल्या को वापस लाने के लिए अगली तैयारियों में लग गए हैं। लेकिन सच यह है कि लंदन हाईकोर्ट की ओर से माल्या को मौखिक सुनवाई का आवेदन देने के लिए पांच दिनों का समय दिया गया है। यों माल्या की याचिका को खारिज करने के लिए हाईकोर्ट ने जिन तर्कों को आधार बनाया, उन्हें देखते हुए संभावना इसी बात की बन रही है कि अब भारत में उसके प्रत्यर्पण के रास्ते की अड़चनें कम हो रही हैं।

गौरतलब है कि विजय माल्या 2016 में भारत को छोड़ कर ब्रिटेन चला गया था। उस पर आरोप है कि उसने अपनी किंगफिशर एयरलाइंस कंपनी के लिए धोखाधड़ी से करीब दस हजार करोड़ रुपए का कर्ज लिया और उस कंपनी के बर्बाद होने के बाद वह विदेश भाग गया। निश्चित रूप से यह पक्ष सवालों के घेरे में है कि इतनी बड़ी रकम लेकर विदेश भाग जाने की सुविधा कैसे मिल गई और उसे संरक्षण देने वाले लोग कौन थे। उसके लंदन भाग जाने के बाद भले ही उसे आर्थिक भगोड़ा अपराधी घोषित करने की प्रक्रिया शुरू की गई, लेकिन उसकी गैरकानूनी गतिविधियों को समय पर रोकने और उसके खिलाफ कानूनी कार्रवाई करने के बारे में शायद ही कभी शिद्दत से सोचा गया था। आज हालत यह है कि विजय माल्या को भारत वापस लाने के लिए संबंधित महकमों को काफी मशक्कत करनी पड़ रही है। इस तरह के मामले में हजारों करोड़ रुपए का कर्ज लेकर देश की आंखों में धूल झोंकने विदेश भागने वाला माल्या कोई अकेला कारोबारी नहीं है। माल्या के अलावा नीरव मोदी और मेहुल चोकसी जैसे कई लोग देश के अरबों रुपए लेकर विदेश भाग गए। सवाल है कि इन तमाम लोगों को विदेश भागने की सुविधा कैसे हासिल हुई!

हालांकि माल्या के मसले पर बढ़ते दबाव के बाद फरवरी में ब्रिटेन के गृहमंत्री ने शराब के कारोबारी विजय माल्या को भारत प्रत्यर्पित किए जाने का आदेश दिया था। इसका साफ मतलब यही होता है कि आर्थिक भगोड़ों के खिलाफ भारत सरकार की ओर से अंतरराष्ट्रीय स्तर पर जिस तरह का दबाव बनाया गया, उस दिशा में उठाए गए कदमों और कूटनीतिक स्तर पर की गई पहलकदमियों का असर सामने आ रहा है। हालांकि लंदन हाईकोर्ट के फैसले के बावजूद माल्या को तुरंत ही भारत वापस लाना शायद मुमकिन नहीं हो सकेगा, क्योंकि माल्या के पास अभी सुप्रीम कोर्ट में जाने का विकल्प खुला हुआ है। यों भारत सरकार का दावा यह है कि माल्या की परिसंपत्तियों से काफी बड़ी रकम की वसूली की गई है। अगर माल्या या उसके जैसे भगोड़े आर्थिक अपराधियों को सजा दिलाने में कोई ढिलाई बरती जाती है तो इसका संदेश यही जाएगा कि सरकार मामूली रकम कर्ज लेने वालों के प्रति तो पूरी सख्ती बरतती है, लेकिन बड़े आर्थिक अपराधियों को विदेश भाग जाने से नहीं रोक पाती।

कल्पमेधा

मूर्ख आदमी हमेशा उस पर श्रद्धा रखता है
जिसे वह समझ नहीं सकता।
-सेजारे लोमब्रोसो

अतिथि शिक्षकों के कंधे पर शिक्षा

कौशलेंद्र प्रपन्न

हर साल विभिन्न सरकारी और गैर सरकारी संस्थानों की रिपोर्टें हमें बताती हैं कि हमारे बच्चे अपनी आयु और स्तर के अनुसार विषयी ज्ञान हासिल करने में पीछे हैं। इसके कारण बहुत हैं। लेकिन एक बड़ा कारण यह भी है कि हमने प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक शिक्षा अतिथि शिक्षकों के भरोसे छोड़ दी है। हालांकि रिपोर्ट तो यह भी बताती हैं कि आज न केवल प्राथमिक शिक्षा, बल्कि तमाम विश्वविद्यालयों में भी स्थायी नियुक्तियां न के बराबर हो रही हैं।

आंकड़ों के पहाड़ से नीचे झांकें तो यही दिखाई देता है कि सिर्फ दिल्ली में तकरीबन बाईस हजार अतिथि शिक्षक सरकारी स्कूलों में अपनी सेवाएं दे रहे हैं। ये दस-पंद्रह साल से भी ज्यादा समय से बतौर अतिथि ही शिक्षण में लगे हैं। दिल्ली के तकरीबन अड़तीस फीसद शिक्षक अतिथि की श्रेणी में आते हैं। इन अतिथि शिक्षकों को गर्मियों की छुट्टियों का वेतन नहीं मिलता। यह वह शिक्षक समुदाय है जो अपनी पूरी क्षमता और ऊर्जा लगाता है, लेकिन सुनने को यही मिलता है कि अतिथि शिक्षक स्थायी शिक्षकों की तरह जिम्मेदारी से अपना कार्य नहीं करते।

हाल ही में दिल्ली अधीनस्थ सेवा चयन बोर्ड (डीएसएसबी) ने एक रिपोर्ट जारी की थी। इसमें चौंकाने वाली बात सामने आई कि अतिथि शिक्षकों की जब परीक्षा ली गई तो उनमें से सतहत्तर फीसद शिक्षक निम्नतम अंक भी हासिल नहीं कर पाए। क्या अब अनुमान लगाना इतना कठिन है कि जहां बाईस हजार अतिथि शिक्षक विभिन्न स्कूलों में अपनी जो सेवा दे रहे हैं, उसकी गुणवत्ता किस स्तर की होगी। क्या ऐसा नहीं है कि हमारे बच्चे भाषा, गणित, विज्ञान आदि में यदि पिछड़ रहे हैं तो उनके पिछड़ने में इन शिक्षकों की सिखाने की शैली का हाथ नहीं होगा? हमारे अतिथि शिक्षक किस प्रकार की शिक्षण प्रविधियों और तरीकों का प्रयोग कक्षा में कर रहे हैं, उस पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

प्राथमिक और उच्च प्राथमिक शिक्षा को अतिथि व तदर्थ शिक्षकों के कंधे पर डालने की प्रक्रिया नब्बे के दशक में शुरू हो चुकी थी। देखते ही देखते इन शिक्षकों की संख्या देश के विभिन्न राज्यों में फैलती चली गई। केंद्र एवं राज्य दोनों ही सरकारों ने अतिथि और तदर्थ शिक्षकों को स्थायी शिक्षकों के समानांतर एक नई व्यवस्था स्थापित करने की कोशिश की। इस प्रयास में काफी हद तक सफलता मिली। वहीं दूसरी ओर शिक्षाविदों, शिक्षक-प्रशिक्षकों आदि ने इस तदर्थवादी शिक्षक व्यवस्था का जमकर विरोध भी किया। तर्क-वितर्क की रोशनी में यह समझने-समझाने की कोशिश की गई कि प्राथमिक शिक्षा में अतिथि व तदर्थ शिक्षकों की नियुक्ति से बेहतर है स्थायी शिक्षकों को लगाया जाए। लेकिन शिक्षाविदों का विरोध बस कुछ खबरों की चौहद्दी तक ही सीमित रहा। उनके तर्क और स्थापनाएं सरकारी नीतियों को न तो प्रभावित कर पाए और न इसके लिए मजबूर कर पाए कि क्यों न अतिथि शिक्षकों की बजाय प्राथमिक और उच्च प्राथमिक शिक्षा में स्थायी नियुक्ति की जाए।

सरकारें लगातार दूसरे विकल्प पर काम करती रहीं, यानी शिक्षकों की स्थायी नियुक्ति के स्थान पर अतिथि शिक्षकों की भर्ती पर अड़ी रहीं। अस्थायी शिक्षकों की नियुक्ति को लेकर 2009 में बना शिक्षा के मौलिक अधिकार (आरटीई) अधिनियम भी ज्यादा असर नहीं छोड़ पाया। वर्ष 2010 में बिहार सरकार ने लाखों अर्द्ध प्रशिक्षित एवं महज बीए व एमए पास को बतौर शिक्षक नियुक्तियां प्रदान की थीं। वहीं उत्तर प्रदेश में भी 2010 के बाद अखिलेश सरकार ने भी इसी तर्ज पर शिक्षकों की भर्ती की थी। हालांकि आरटीई एक्ट में स्पष्ट किया गया है कि अप्रशिक्षित शिक्षकों को सेवाकालीन दो वर्ष के अंदर सरकार प्रशिक्षण प्रदान करेगी। कुछ राज्यों में अभी भी ऐसे अतिथि शिक्षक कार्यरत हैं जिनके पास व्यावसायिक दक्षता एवं प्रशिक्षण नहीं है। ऐसे में किस प्रकार की शैक्षणिक गुणवत्ता की उम्मीद कर सकते हैं?

हर साल विभिन्न सरकारी और गैर सरकारी संस्थानों की रिपोर्टें हमें बताती हैं कि हमारे बच्चे अपनी आयु और स्तर के अनुसार विषयी ज्ञान हासिल करने में पीछे हैं। इसके कारण बहुत हैं। लेकिन एक बड़ा कारण यह भी है कि हमने प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक शिक्षा अतिथि शिक्षकों के भरोसे छोड़ दी है। हालांकि रिपोर्ट तो यह भी बताती हैं कि आज न केवल प्राथमिक शिक्षा, बल्कि तमाम विश्वविद्यालयों में भी स्थायी नियुक्तियां न के बराबर हो रही हैं। केंद्रीय विश्वविद्यालयों में भी स्थायी नियुक्तियों के समानांतर अतिथि शिक्षकों की भर्ती की जा रही है। ऐसे शिक्षकों की संख्या लाखों में है जो पिछले दस-पंद्रह साल से अतिथि शिक्षक के तौर पर ही अपनी सेवा दे रहे हैं।

एक बात तो प्रमुखता से उभर कर सामने आती है कि सरकार को अस्थायी नियुक्तियों में कई जिम्मेदारियों से छुटकारा मिल जाता है। वहीं अतिथि शिक्षकों को कभी भी बीच सत्र में भी बाहर का रास्ता दिखाना आसान होता है। जबकि इनसे भी शिक्षण संबंधी तमाम मांगों की पूर्ति की प्रतिबद्धता एवं जवाबदेही की उम्मीद की जाती है। ऐसे में स्थायी और अस्थायी कर्मी के बीच एक द्वंद्व और संघर्ष की स्थिति पैदा होती है। इससे कैसे बाहर आया जाए, इस बाबत सरकारी नीतियां कोई खास मदद नहीं करतीं।

खासकर शिक्षण व्यवसाय से संबंध रखने वालों से शैक्षणिक ज्ञान और योग्यता की उम्मीद और अपेक्षा गलत नहीं है। क्योंकि जो व्यक्ति अध्यापन के लिए जा रहा है क्या उसकी शैक्षणिक समझ नवीन और व्यावसायिक अपेक्षाओं के अनुकूल है या नहीं, यह बेहद आवश्यक है। जहां तक शैक्षणिक ज्ञान का मसला है तो अतिथि शिक्षक भी बीएड, एमएड आदि पेशेवर ज्ञान एवं प्रशिक्षण हासिल कर शिक्षण व्यवसाय में आते हैं। यहां एक बड़ा सवाल यह उठता है कि जब वे कोर्स कर रहे होते हैं, तमाम तरह के शैक्षणिक दर्शन, मनोविज्ञान, इतिहास, वर्तमान की समझ साझा की जाती है, लेकिन कहीं न कहीं जब वे बतौर शिक्षक कक्षा में आते हैं तब कुछ और व्यावसायिक ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है जिसके लिए लगातार पढ़ते-लिखते रहना होता है। यदि हमारा शिक्षक अपनी शैक्षणिक ज्ञान और समझ को समय-समय पर पुनर्नवा नहीं करेगा तो वह कहीं न कहीं व्यावसायिक स्तर पर पिछड़ जाएगा। दूसरा महत्त्वपूर्ण मसला है, व्यावसायिक योग्यता व दक्षता। शैक्षणिक ज्ञान तो किताबें पढ़ कर हासिल हो जाता है, लेकिन व्यावसायिक दक्षता अनुभव से ही आती है। जब हमारा शिक्षक कक्षा में खड़ा होता है तब ज्यादा चुनौतियां आती हैं। इनके निपटने के लिए कई बार किताबी ज्ञान और स्वविवेक का प्रयोग करना होता है।

डीएसएसबी की रिपोर्ट इसी ओर इशारा कर रही है कि अतिथि शिक्षकों में व्यावसायिक दक्षता की कमी गहरी है। यदि पूरे देश की स्थिति पर नजर डालें तो स्थितियां संतोषजनक नहीं कही जा सकतीं। हम प्राथमिक और उच्च प्राथमिक शिक्षा को जिन शिक्षकों के कंधे पर डाल कर निश्चिंत हो गए हैं, उसके नतीजे आने वाले वक्त में मिलेंगे। इस तल्ख हकीकत से हम कैसे मुंह मोड़ सकते हैं कि कक्षा में सीखने-सिखाने के विभिन्न स्तरों पर बच्चे पिछड़ रहे हैं। तमाम रिपोर्टें लगातार ताकीद कर रही हैं कि बच्चे विभिन्न विषयों की समझ में पीछे हैं। शिक्षक किन व्यावसायिक निष्कर्षों में पिछड़ रहे हैं, इसकी जांच करने की आवाज भी समय-समय पर उल्लती रही है। लेकिन शिक्षकों के विभिन्न धड़ों ने इसका विरोध किया था। गौरतलब है कि जब केंद्रीय एवं राज्य स्तरीय शिक्षक पात्रता परीक्षाएं आयोजित की गईं तो उन परीक्षाओं में भी हमारे शिक्षक उम्मीद से कहीं ज्यादा फेल हुए थे। तब हमने जांच की कसौटियों एवं मानकों पर सवाल खड़े किए थे। क्या मानक और जांच की मंशा पर सवाल फेंक कर इस सच्चाई से मुंह मोड़ सकते हैं कि शिक्षकों की भी सेवाकालीन मूल्यांकन होनी चाहिए? इस प्रकार की जांच परीक्षा और कुछ करे न करे, कम से कम शिक्षकों को आत्म-मूल्यांकन और व्यावसायिक दक्षता मूल्यांकन के अवसर मुहैया कराती हैं। इससे कम से कम शिक्षक अपनी व्यावसायिक प्रतिबद्धता एवं योग्यता को अपने स्तर पर और सांस्थानिक स्तर सीख एवं अधुनातन कर सकता है।

मेरा क्या

जीनत

दुनिया मेरे आगे

कुछ समय पहले मैं अपने एक पड़ोसी के घर गई। उनके यहां आए रिश्तेदारों में से एक महिला ने सबके सामने मुझसे कहा कि तुमने नाक नहीं छिदवाई है, कितनी बुरी शक्ल वाली लग रही है! एक पल को मैं उन्हें बस देखती रह गई। उनकी प्रतिक्रिया मेरे जेहन में घूमती रही। इसके बाद सबकी नजरें मेरी नाक पर आ टिकीं। मैं समझ नहीं पाई कि ये सब औरतें कौन हैं! क्या ये वही औरते हैं, जिनके अंदर इच्छाओं और उमंगों के अनेक फूल खिलते हैं। या फिर ये पितृसत्ता से बंधी वे औरतें हैं जो बस वही देखती, सोचती और करती हैं, जो पितृसत्ता के सत्ताधीश उनसे करवाना चाहते हैं? क्या फिर पितृसत्ता ने वक्त के मुताबिक नया स्वांग रचा है, जिसे मेरा रहन-सहन, शृंगार, सबसे सख्त नाराजगी है।

पितृसत्ता हर औरत को अपनी गिरफ्त में लेकर उसे वैसा ही बनाना चाहती है, जैसा उसे देखना अच्छा लगता है। इस बात की बारीकी को समझते हुए ही सिमोन कहती हैं कि 'औरत पैदा नहीं होती, बल्कि बनाई जाती है।' वह अपने साथ नजाकत, हया, घबराहट लेकर पैदा नहीं होती। अगर ऐसा होता तो फिर लड़के में भी ये गुण होने बहुत जरूरी हैं। पुरुषवादी मानसिकता ने एक नहीं, मानसिकता के कई रूपों से बहुत सारी औरतों को अपनी फौज में शामिल किया है। वे औरतें हर जगह यह देखती फिरती हैं कि लड़की कहीं लड़की होने की लक्ष्मण रेखा तो नहीं लांघ रही है। अगर वह लांघ रही है और अपने हिसाब से जीने की कोशिश कर रही है, तो उसे लज्जित करते देर नहीं करतीं कि तुम अपने रास्ते कैसे बना सकती हो... तुम तो परजीवी हो और तुम्हें वही बने रहना है।

कुछ साल पहले एक किताब आई थी, जिसके मुखपृष्ठ पर गढ़े गए चित्र में एक स्त्री सीढ़ियां चढ़ रही थी, पर वह आखिरी सीढ़ी नहीं चढ़ पाती। कक्षा में सवाल करने पर जवाब मिला कि किसी भी स्त्री का सम्पूर्ण कामयाब होना पुरुष या पुरुष मन को बर्दाश्त नहीं होता। कोई न कोई बाधा पैदा कर उसे सीढ़ियां चढ़ने से रोक ही दिया जाता है। स्त्री के फैसला लेने की शक्ति को ही उसकी कमी बता कर सामूहिक रूप से उसके मनोबल पर चोट की जाती है और कमजोर बनाया जाता है।

दरअसल, समस्या केवल बराबरी की नहीं, अस्तित्व की भी है। जब हम अपने अस्तित्व की ही रक्षा नहीं कर पा रहे तो हमारी बराबरी की बात तो कहीं दूर पंक्ति में खड़ी होगी। इस अस्तित्व की रक्षा कैसे करनी है, इसके बारे में मैं कोई ठोस राय नहीं बना पा रही हूं। हालांकि मैं बराबरी को केवल इस रूप में नहीं देखती कि पढ़-लिख कर रोटी नहीं बनाएंगे या कपड़ों में केवल जींस पहनेंगे। जबकि मुझे सलवार-सूट पहनना बहुत पसंद है और शायद पढ़ कर मैं अपने सारे काम और बेहतर कर सकूं... ज्यादा अच्छी रोटी बना सकूं। पर इस तरह की बातें केवल कॉलेज और विश्वविद्यालयों में या मंचों पर अच्छी लगती हैं। इससे इतर हर समाज अपनी संस्कृति के अनुसार उन चीजों से निपटता है।

जाने क्यों मुझे यह बात समझ नहीं आती है कि आखिर स्त्री का अपना होता क्या है। ऐसा क्या होता है, जिसकी वजह से वह मानसिक गुलामी को स्वीकार कर लेती है। क्या सच में यह चमकदार और सुनहरे गहनों, कपड़ों और अट्टालिकाओं की चाह भर है या कुछ और, जिसे वह खुद से हासिल करने में असमर्थ होने के कारण खुद से ही समझौते करती है? दरअसल, पितृसत्ता के मानस में जीती औरतें युवा होती लड़कियों को उनकी नजर में गिरने और कमजोर होने का एहसास कराती रहती हैं कि तुम लाचार हो.. तुम्हारा कुछ भी नहीं है। मसलन, इन दिनों मेरा नया घर बन रहा है। शायद 'मेरा' शब्द का प्रयोग उचित न हो, क्योंकि एक लड़की का घर उसके पिता का घर नहीं, पति का घर होता है। जब मैंने यह कहा कि नीचे वाले कमरे में लाइब्रेरी बनाएंगे तो मुझे मोहल्ले की कई औरतों के मुंह से सुनने को मिला कि अरे 'तुम्हारा क्या है... कहीं भी रह लेना! तुम्हारा क्या, दो-तीन साल में तो शादी करके अपने घर जाना ही है!'

मैं भी खुद से यह सवाल करती हूं कि मेरा क्या है या एक स्त्री का क्या है? सवाल यह है कि जिसने पैदा किया, जिसके साथ जीवन के बाईस-तेईस साल गुजरे, उन अपनों का घर अपना न हो सका तो किसी पराए के घर को कैसे अपना कह दिया जाए! यह भी तो केवल एक झांसा ही है कि आधी जिंदगी अपना घर मिलने की खुशफहमी में बिता दो और आधी अपना घर न मिलने के गम में। यह 'अपना घर' किसी कमरे में रहने से संबंधित नहीं, बल्कि परिवारजनों के दिल में रहने से संबंधित है। 'विस्तृत नभ का कोई कोना/ न मेरा न अपना होना /परिचय इतना इतिहास यही/ उमड़ी कल थी मिट आज चली।' मैं महादेवी वर्मा की इन पंक्तियों को न जाने क्यों बदल देना चाहती हूं। जैसे स्त्री का स्वतंत्र होना एक यूटोपिया लगता है, ठीक वैसे ही इसकी कल्पना तो की ही जा सकती है।

हवा में जहर

हाल ही में अमेरिका के हेल्थ इफेक्ट इंस्टीट्यूट ने 'स्टेट ऑफ ग्लोबल ईयर' (एसजीए) नामक रिपोर्ट जारी की है, जो भारत में बढ़ते वायु प्रदूषण की स्पष्ट तस्वीर बयां करती है। रिपोर्ट के अनुसार वायु प्रदूषण के कारण भारत में सालाना बारह लाख मौतें हुई हैं। यह आंकड़ा विश्व में वायु प्रदूषण से हुई कुल मौतों का तकरीबन एक चौथाई है। गौरतलब है कि भारत में वायु प्रदूषण का स्तर लगातार बढ़ रहा है और पिछले साल भी विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ) की रपट में यह बात सामने आई थी कि विश्व के सर्वाधिक प्रदूषित पंद्रह शहरों में से चौदह भारत के हैं। ऐसे में ये रिपोर्ट्स हमें आईना दिखाने के साथ ही पर्याप्त कदम उठाने का संकेत करती हैं।

हालांकि उज्ज्वला योजना सरीखे प्रयासों से प्रदूषण नियंत्रण के मामले में कुछ प्रगति हुई है पर यह प्रयास बहुत सीमित है और ताप विद्युत, विनिर्माण और परिवहन जैसे क्षेत्रों में अभी भी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। आज भले हम अंतरराष्ट्रीय सौर गठबंधन में नेतृत्व की भूमिका निभा रहे हों पर सौर ऊर्जा उत्पादन की दिशा में पड़ोसी देश चीन से काफी पीछे हैं। जहां हम सौर ऊर्जा से बीस हजार मेगावाट बिजली का उत्पादन करते हैं वहीं चीन करीब डेढ़ लाख मेगावाट का उत्पादन कर रहा है। शायद यह भी एक कारण है कि चीन का माल हमसे सस्ता बनता है। आज सार्वजनिक परिवहन की स्थिति दयनीय है इसलिए एक मध्यम दर्जे का आम आदमी बिना मजबूरी उसमें सफर करना नहीं चाहता।

ऐसे कुछ अन्य कारण हैं जिनकी वजह से हम वातावरण में फैलते जहर को रोकने में अब तक नाकाम रहे हैं और भावी पीढ़ी को एक जहरीला संसार सौंपने जा रहे हैं। एसजीए रिपोर्ट यह भी कहती है कि मौजूदा स्थिति के बरकरार रहने पर दक्षिण एशिया में जन्मे बच्चे का जीवनकाल ढाई वर्ष कम रह जाएगा।

इसलिए यह चेतने का वक्त है और प्रदूषण नियंत्रण के ऐसे प्रयास करने की आवश्यकता है ताकि भावी पीढ़ी हम पर गर्व करे न कि हमें कोसती रहे।

● *सुमित यादव, कालपी, उत्तर प्रदेश*

कंक्रीट के जंगल

साल दर साल भारत में शहरों का दायरा बढ़ता जा रहा है। शहरों के साथ लगते गांवों और कृषि योग्य जमीन पर कंक्रीट के जंगल बढ़ते जा रहे हैं। जंगलों का घटना जलवायु परिवर्तन का सबसे बड़ा कारण है। जलवायु परिवर्तन कृषि के लिए ही नहीं, बल्कि प्राणी जाति के अस्तित्व के लिए भी खतरा है। यह वायु को इस कदर खराब कर देगा कि स्वर्ग जैसी धरती नरक बन जाएगी। कुदरत के नियमों के विरुद्ध जाकर इंसान ने खुद अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने का काम किया है। प्राकृतिक आपदाएं यह संकेत करती हैं कि इंसान विकास के चाहे लाख दावे कर ले, लेकिन प्रकृति के आगे अभी भी निहायत बौना है। जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए अगर समय रहते प्रयास नहीं किए गए तो वह दिन दूर नहीं जब यह प्राणी व वनस्पति जगत के लिए एक बहुत बड़ी मुसीबत बन जाएगा।

● *राजेश कुमार चौहान, जालंधर*

चुनावी पैंतरे

चुनावों के दौरान नेताओं में जनहितैषी दिखने की होड़-सी लग जाती है। कोई गरीबों के घर जाकर उनके हाथ से बने भोजन का आनंद लेते हुए फोटोशूट करवा रहा है तो कोई किसानों के खेत में जाकर गेहूं काट रहा है। कोई ट्रैक्टर पर चढ़ कर किसानों का दिल जीतने में लगा है। सफाईकर्मियों के पैर धोने से लेकर बच्चों के साथ मैच खेलने या ऑटो चलाने का काम भी किया जा रहा है। आखिरकार नेताओं को चुनाव के समय ही यह सब क्यों याद आता है? वे यह समझने की भूल कर बैठते हैं कि 'पब्लिक है सब जानती है!' पांच सालों में जनता की सुध न लेने वाले जन प्रतिनिधियों का यह व्यवहार बनावटी दिखता है। कितना दुखद है कि अपने अधिकारों के लिए आमजन को सड़क पर संघर्ष करते हुए लाठियां तक खानी पड़ती हैं तब उन्हें इनकी याद नहीं आती।

नेताओं को समझना चाहिए कि चुनावी पैंतरों से क्षणिक लाभ तो मिल जाएगा पर देश व समाज की तरक्की नहीं हो पाएगी। दृढ़ निश्चय के साथ जनहित के मुद्दों पर गंभीर होकर काम करना होगा। कोरे भाषणों से इतर शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, महिला सुरक्षा, प्रदूषण नियंत्रण जैसे गंभीर मुद्दों पर सक्रिय होकर काम करने की आवश्यकता है। आमजन को भी इस वक्त अपने नेताओं से पांच सालों में किए गए कार्यों का हिसाब मांगना चाहिए। जनतंत्र को मजबूत बनाने में सबको भागीदार होना होगा।

● *सफी अंजुम, पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना*

जल प्रबंधन जरूरी

पिछले महीने विश्व जल दिवस पर जारी ब्रिटेन के अंतरराष्ट्रीय गैर-सरकारी संगठन 'वाटर एड' की रिपोर्ट में दावा किया है कि भारत में एक अरब आबादी पानी की कमी वाले स्थानों में रह रही है। रिपोर्ट के अनुसार जल स्रोतों की बढ़ती मांग के चलते भूजल के अत्यधिक दोहन, पर्यावरण और जनसंख्या में बदलाव की वजह से ऐसा हुआ है। वैश्विक भूजल की कमी सन 2000 से 2010 के बीच बढ़ कर करीब 22 फीसद हो गई है लेकिन इस अवधि में भारत में भूजल की कमी 23 फीसद हो गई है। भारत सबसे अधिक भूमिगत जल का उपयोग करता है। विश्व के कुल भूजल का चौबीस फीसद हिस्सा भारत इस्तेमाल करता है। राजधानी दिल्ली और बंगलुरु जैसे महानगर जिस तरह जल संकट का सामना कर रहे हैं उसे देखते हुए अनुमान लगाया जा रहा है कि 2030 तक इन नगरों में भूजल का भंडार पूरी तरह खत्म हो जाएगा।

इस सच्चाई से इंकार नहीं किया जा सकता कि पृथ्वी पर रहने वालों के लिए ग्लोबल वार्मिंग के बाद जल संकट दूसरी सबसे बड़ी गंभीर चुनौती है। कुल वैश्विक आबादी की अठारह फीसद जनसंख्या भारत में निवास करती है लेकिन इसे विश्व में उपलब्ध पेयजल का चार प्रतिशत ही मिल पाता है। गौरतलब है कि अन्य प्राकृतिक और मानवीय संकटों की तरह जल संकट भी मानव निर्मित है। उपलब्ध जल के दोषपूर्ण प्रबंधन के कारण जल संकट और गंभीर हो जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों से रोजगार की तलाश में आबादी के शहरों की ओर पलायन ने शहरी क्षेत्रों में जल संकट को और बढ़ाया है। हमारे देश में कृषि क्षेत्र में समस्त उपलब्ध जल का 70 फीसद उपयोग होता है लेकिन इसका केवल दस फीसद सही तरीके से इस्तेमाल हो पाता है और शेष साठ फीसद बर्बाद हो जाता है। इसलिए हमें गहराई से जल प्रबंधन पर विचार करने की जरूरत है।

● *वीर सिंह, कुठौंद, जालौन, उत्तर प्रदेश*

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com